अनन्तर

अलग अलग एक साथ

ओम थानवी

ढाका में पत्रकार संगठन 'साफमा' की गोष्ठी थी। भारत और बांग्लादेश के संपादक जमा थे। आपसी संबंधों पर बात चली, जो वहीं जाकर अटकी जहां अंदेशा था। भारतीय संपादक बांग्लादेशी 'घुसपैठियों' की बात करने लगे तो वहां के संपादकों ने सरहद पर भारतीय फौज के हाथों 'निर्दोष नागरिकों' के मारे जाने की बात उठा दी। इधर से कहा गया कि बांग्लादेश पूर्वोत्तर के आतंकवादियों को शरण देता है। उधर से जवाब आया कि एक लाख भारतीय बांग्लादेश में बगैर जायज वीजा के काम कर रहे हैं। 'पांचजन्य' के संपादक तरुण विजय ने कुछ खीझ से कहा कि यह पत्रकारों की नहीं, राजनेताओं की शैली का वक्तव्य है। वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप नैयर ने जब यह कहा कि बाबरी मस्जिद हादसे के जवाब में बांग्लादेश में हर कहीं हिंदू मंदिरों पर हमले हुए, तो खीझने की बारी उधर थी।

मैंने अपने मुख्तसर वक्तव्य में इस दुराव के पीछे राष्ट्रवादी भावना के अतिवाद को तलाशने की कोशिश की। पत्रकारिता में- न्याय तंत्र के सामान्य सिद्धांत की तरह- वस्तुनिष्ठता बुनियादी तत्त्व है। सामाजिक होने के नाते पत्रकार के निजी विश्वास और धर्म-बिरादरी भिन्न हो सकते हैं, लेकिन अपनी जिम्मेवारी को अंजाम देते वक्त उसे उनकी छाया से दूर रहना होता है। लेकिन हर परिस्थिति में वस्तुनिष्ठ बने रहने वाले श्रेष्ठ पत्रकार भी राष्ट्र का मामला सामने आने पर अपने इस सर्वोच्च मूल्य को खो देते हैं। वसुधैव कुटुंबकम से लेकर भूमंडलीकरण और विश्वकीर्ति की बातें करने वालों पर सहसा राष्ट्रवाद का चश्मा चढ़ जाता है।

युद्ध के दौर में तो वस्तुनिष्ठता का संपूर्ण लोप उजागर होता है। 'वतन की आबरू खतरे में है' के रेकार्ड महज सरकारी मीडिया पर नहीं बजते। इराक पर हमले के वक्त हमने अमेरिकी मीडिया का यही आचरण देखा। करगिल झड़प के दौरान भारत और पाकिस्तान के टीवी-अखबारों ने भी यही किया। यही रवैया भारत और पाकिस्तान और बांग्लादेश के आपसी विवादों के वक्त प्रकट होता है। नागरिक के नाते राष्ट्रप्रेम की अपनी जगह है। पर पत्रकारों में राष्ट्रवाद का रूप धारण कर वह शायद एक प्रोपेगैंडा की शक्ल अख्तियार कर लेता है। यह कोई सुविचारित नीति नहीं, देश के परिवेश की जज्बाती छाया है। इसी के चलते कश्मीर के एक विवादित भूभाग को भारत का मीडिया पाकिस्तान के कब्जे वाला कश्मीर कहता है और पाकिस्तानी मीडिया मकबूजा कश्मीर। या आजाद कश्मीर। पक्षहीन मीडिया- मसलन बीबीसी- ऐसे प्रयोगों से जरूर बचता है, भले ही मामूली फर्क के साथ। वह 'कब्जे' को 'प्रशासन' कहता है। हालांकि

विश्वयुद्ध के वक्त और इराक पर 'मित्र राष्ट्रों' के हमले के दौरान बीबीसी भी ब्रिटेन की तरफ झुका हुआ था! संकट की घड़ी में मीडिया की यह पक्षधरता गहरी चिंता का मामला है। अदालतें या संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाएं मुल्कों के रिश्ते बेहतर नहीं बना सकतीं, मानवीय सरोकार रखने वाला निष्पक्ष और उदार मीडिया बना सकता है।

मुझे खुशी हुई जब कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे बांग्लादेश–साफमा के अध्यक्ष रियाजुद्दीन ने मेरे खयालों की तस्दीक की। दूसरे साथी भी, कम से कम उस वक्त, मुतमइन दिखे।

गोष्ठी ढाका के सोनार गांव होटल में आयोजित थी। होटल एक चौराहे पर है, जिसकी भीड़– जो बांग्लादेश में कहां नहीं है– मेरे कमरे से हर वक्त दिखाई देती थी। किसी शाम, जब भीड़ कम थी, मुझे चौराहे पर मोजेक में एक शबीह नजर आई। दरियाफ्त की तो पता चला कि काज़ी नजरुल इस्लाम की छवि है। बाद में ठीक ऐसा ही मोजेक मुझे एक और चौराहे पर नजर आया। निश्चय ही देश में और जगहों पर उनकी दूसरी छवियां भी होंगी।

चिर–विद्रोही–वीर के रूप में विख्यात नजरुल की ओजस्वी कविताएं मैंने उनके बेटे सव्यसाची की आवाज में बचपन में सुनी थीं। मेरे पिताजी के पास उस काव्य–पाठ का एक बड़ा रेकार्ड (एलपी) था, जिस पर अधेड़ कवि का सुंदर चित्र था। पिताजी बांग्ला–गुजराती खूब जानते हैं। नजरुल के जिक्र से ही ''विद्रोही'' कविता के बोल ''बॉलो बीर, बॉलो मम उन्नत शीर'' स्वर में दुहराने लगते हैं। दुकानों के नाम पढ़ने जितनी बांग्ला मैंने भी उनसे सीख ली थी जो ढाका में बहुत काम आई। तब नजरुल कलकत्ता में सव्यसाची के साथ ही रहते थे। पर अपनी याददाश्त वे खो चुके थे। उनके दूसरे बेटे अनिरुद्ध की मृत्यु हो चुकी थी।

१९७१ में बांग्लादेश बना। पूर्वी पाकिस्तान के नाम पर अपनी पहचान से जूझ रहे बंगाली समुदाय ने भारत से दोस्ती कर नए मुल्क का गठन किया। बांग्ला क्रांति के अगुवा शेख मुजीबुर्रहमान क्रांतिकारी कवि नजरुल के मुरीद थे। भारत सरकार से आग्रह कर वे नजरुल को ढाका लिवा ले गए। उन्हें बांग्लादेश की नागरिकता प्रदान की गई। बाद में काजी नजरुल इस्लाम बांग्लादेश के राष्ट्रकवि घोषित हुए। नजरुल तब जीवित जरूर थे, पर स्मृति के बगैर। सांसारिक नहीं थे। बीमारी के चलते थोड़े समय बाद ढाका में उनका निधन हो गया।

आज नजरुल के गीत बांग्लादेश में जन–जन की जुबान पर हैं। रवींद्र–संगीत के समांतर वहां नजरुल के कल्लोल–संगीत की प्रतिष्ठा है। नजरुल के नाम पर अकादमी है, संस्थाएं हैं, सड़कें हैं, चौराहे हैं। हां, भारत में जरूर नजरुल भुला दिए गए हैं। भारत में साहित्यकारों को हम शायद वह इज्जत नहीं देते जो बंगाल की संस्कृति देती है। होटल के कमरे से चौराहे की छतरी में उनका मोजेक निहारते हुए मुझे तल्ख अहसास हुआ कि हमारे यहां दिल्ली में शबीह तो क्या कोई सड़क तक मीर–गालिब या अज्ञेय–जैनेंद्र के नाम पर नहीं है!

बहरहाल, भारत और पाकिस्तान के बीच पड़ी गांठों को शेख मुजीब ने बांग्लादेश बनने के बाद जाने–अनजाने खोलने की कोशिश की। इतना ही नहीं, बांग्लादेश का राष्ट्रगान ''आमार सोनार बांग्ला, आमि तोमाय भालोबाशी'' भी रवींद्रनाथ ठाकुर का लिखा हुआ है। वे शायद अकेले कवि होंगे जिनकी कविताएं दो देशों का राष्ट्रगान हैं। कवींद्र भारत–पाक बंटवारे से पहले ही ईश्वर को प्यारे हो गए थे। पर वे उस भूभाग के रहने वाले जरूर थे जो कालांतर में बांग्लादेश बना। लेकिन नजरुल तो पश्चिम बंगाल में चुरुलिया (बर्धमान) के रहने वाले थे। बांग्लादेश गमन के बाद उनका परिवार यानी बेटे–पोते भारत में ही रहे। कवींद्र– जो हिंदू थे– और भारतीय नागरिक नजरुल को इस तरह अपना बना कर शेख मुजीब ने साफ संदेश दिया कि सांस्कृतिक पहचान बड़ी होती है। वही जातीय या राष्ट्रीय पहचान हो सकती है।

पाकिस्तान धर्म के नाम पर बना था। धर्म से राष्ट्र बन सकते तो दुनिया के सारे मुसलमान और ईसाई दो मुल्कों में सिमट गए होते। पूर्वी पाकिस्तान के बंगाली समुदाय ने उर्दू के नाम पर जब बांग्ला को– जो भाषा से ज्यादा उनकी जातीय पहचान थी– मिटते देखा तो बगावत हुई। बांग्लादेश बना। शेख मुजीब ने रवींद्र–नजरुल के काव्य के साथ भारत से आत्मीय नाता जोड़ा। सरहद को लांघा। लेकिन उनकी हत्या के साथ शायद उस विचार की हत्या हो गई।

आज बांग्लादेश कमोबेश पाकिस्तान की राह पर जाता दिखाई देता है। फौजी हुकूमतों और आपातकाल के बीच वह भी इस्लामी राज्य घोषित हो चुका है। नजरुल चौराहों पर मौजूद जरूर हैं, पर उनके काव्य की पहले जैसी कद्र नहीं रही। नजरुल–गीति के विद्वान रफीकुल इस्लाम दो टूक कहते हैं कि राष्ट्रकवि बना कर नजरुल को हमने 'सरकारी कवि' बना दिया। जीवन भर प्रतिष्ठान से लड़ने वाले मानुष पर प्रतिष्ठान की छाया उस काव्य को निस्तेज कर रही है, जो एक गैर–सांप्रदायिक समाज की रचना में मददगार हो सकता था। हिंदी में चार दशक पहले नजरुल की भावपूर्ण जीवनी लिखने वाले विष्णुचंद्र शर्मा ने बताया कि कुछ समय पहले दिल्ली के एक अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेले में बांग्लादेश के स्टॉल पर नजरुल की सिर्फ एक कृति उपलब्ध थी– कुरान का उनका बांग्ला अनुवाद!

ढाका विश्वविद्यालय के परिसर में बने नजरुल के मजार पर जब मैं सिर नवाने गया तो देखा कि काली और कुरान पर एक साथ लिखने वाले और मंदिर–मस्जिद से दूर भागने वाले नजरुल एक मस्जिद के साये में सोए हैं। उनके मजार और मस्जिद के बीच कोई दूरी नहीं है, बल्कि मजार तक मस्जिद के दरवाजे से ही

जाना पड़ता है। यह जगह सुहरावर्दी बाग कहलाती है। मजार तक पहुंचने के लिए अलग दरवाजा है, पर वह बंद रहता है। उस पर एक शिला जड़ी है, जिस पर जन्म-मृत्यु की तिथियों के साथ दर्ज है: ''राष्ट्रकवि यहां चिरनिद्रा में लीन हैं''। एक कविता 'निश्चल-निश्चुप' (निश्चल और मौन) की दो सुंदर पंक्तियां शिला पर सबसे ऊपर उत्कीर्ण हैं: ''मित्रो, मैं तुम्हारे करीब ही हूं। पर अब जागूंगा नहीं। दिन भर शोर मचाता नहीं करूंगा भंग किसी का ध्यान!'' रफीकुल इस्लाम के मुताबिक शेख मुजीब के वक्त मजार पर नजरुल का मकबरा बनाने की योजना बनी थी। उस योजना को आज तक अंजाम नहीं दिया जा सका है।

सरकार के ऐसे रवैये से साहित्य और कला की दुनिया में घुटन का माहौल है। लोग बोलते हैं, पर लिखते नहीं हैं। तसलीमा नसरीन का हश्र सबकी आंखों के सामने है। वे सरकारी अस्पताल की एक चिकित्सक थीं। देश के सोलह फीसद हिंदुओं के प्रति उन्होंने सदाशयता दिखाई। बाबरी मस्जिद ढहने पर उमड़े उन्माद के खिलाफ 'लज्जा' उपन्यास लिखा। इसके लिए उनके नाम फतवे जारी हुए, इनाम रखे गए, सिर मांग लिया गया। सरकार और अदालतें तक कट्टरपंथियों के साथ हो गईं। आज वे जिलावतन होकर भारत की शरण में हैं। उनकी तीस किताबों का अनुवाद बीस भाषाओं में हो चुका है। दुनिया भर के इनाम-इकराम उनकी झोली में हैं। पर बांग्लादेश में उनके लिए जगह नहीं है। आज वहां जो हालात हैं, उन्हें देखकर नहीं लगता कि जीते-जी कभी तसलीमा अपने घर लौट पाएंगी। बांग्लादेश में रहने वाले लेखकों-कलाकारों के लिए यह दास्तान मामूली सबक नहीं है।

जाहिर है, पाकिस्तान की तरह बांग्लादेश भी जातीय पहचान के उलट अब मजहब के कोटर में दुबक गया है। जातीय नजरिया उन्हें बंगाल की संस्कृति से फिर जोड़ता था। राष्ट्रवाद का नजरिया उन्हें भारत से दूर और अंतत: उसके विरुद्ध ले जाता है। उदार संस्कृति जोड़ती है, संकीर्ण राष्ट्रवाद तोड़ता है। नई पहचान के फेर में वे भूल जाते हैं कि बंटवारे से पहले का भारत उनका भी था। भारत की सबसे बड़ी ताकत उसकी सांस्कृतिक पहचान थी, जिसका साझा पाकिस्तान और बांग्लादेश बगैर किसी लिखित समझौते के आज भी साधिकार कर सकते हैं। लेकिन वे पुरानी पहचान मिटाना चाहते हैं। यह उनका लक्ष्य जरूर है, पर न उन्हें इसका रास्ता मालूम है न हश्र का इल्म है। दुनिया की प्राचीन सभ्यता से जुड़ाव का अब उन्हें फख्र नहीं होता, बल्कि अतीत जैसे उन पर चोट करता है। वे भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद एक नहीं हैं, दोनों के बीच बड़ा फासला है। राष्ट्रवाद उन्हें भारत से ही नहीं, खुद से भी दूर ले जा रहा है।

पिछली दफा, जब मैं पाकिस्तान में था, पता चला कि भारतीय उपमहाद्वीप को वहां के अखबारों में सिर्फ उपमहाद्वीप लिखा जाता है। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण- जो पहले दोनों मुल्कों का था- का नाम आने पर 'भारतीय' शब्द हटा दिया जाता है। मुल्क का 'इतिहास' वे पचास-साठ साल का बताएं तो बेतुका होगा;

अविभाजित भारत के इतिहास से भी वे नहीं जुड़ना चाहते; इसलिए पाठ्य-पुस्तकों में अपना इतिहास सन् ७११ से शुरू करते हैं, जब मुहम्मद बिन कासिम ने 'जालिम राजा' दाहिर को हराकर इस भूभाग पर कदम रखा। विडंबना यह है कि इससे हड़प्पा- जो अब पाकिस्तान में ही है- से लेकर आजादी के दौर तक की साझा विरासत से वे पूरी तरह कट जाते हैं। उधर बांग्लादेश भारत से ही दूर नहीं जाता, पाकिस्तान से खिंचाव के चलते- नई पहचान के फेर में- वह चौबीस साल के साझा सफर के साथ-साथ इकबाल और वारिस शाह के नाम तक को निकाल कर दूर रख देता है।

कहना होगा कि स्मृति से इस तरह कट कर कोई पहचान हासिल नहीं होती। आपस में जुड़े रहकर भी अलग रहा जा सकता है। मगर इसके लिए अतिवादी राष्ट्रवाद के दुश्चक्र से निकलना होगा। यूरोप इसकी शायद बेहतर मिसाल साबित हो। तुर्की के साम्राज्यवाद के खिलाफ पूर्वी यूरोप में राष्ट्रवाद ने सिर उठाया। छोटे-छोटे ढेर देश बने। सबका धर्म एक था, भाषाएं अलग थीं। लेकिन जल्द ही वे एक-दूसरे से जूझने लगे। दो महायुद्धों और हिटलर के राष्ट्रवाद को देखकर उन्हें कुछ होश आया। वक्त लगा, पर आज अलग रहते हुए यूरोप एक है। अलग गणतंत्र हैं, पर उनकी एक साझा संसद है। भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश कल एक थे। अलग होने के बावजूद उनकी पहचान एक है। जुदा मुल्कों का एक होना आज नामुमकिन नजर आता है। पर उनकी सांस्कृतिक पहचान क्या उन्हें फिर एक धरातल पर खड़ा नहीं कर सकती?

राममनोहर लोहिया ने बिछड़े इलाकों के फिर से एक होने की उम्मीद खोने पर उनके एक महासंघ की कल्पना की थी। वह विचार अप्रासंगिक नहीं हुआ है। सार्क इन देशों की आपसी समझ का मंच नहीं हो सकता। बगैर किसी मंच के आपसी दूरियां, तनाव और अविश्वास बढ़ सकते हैं, घट नहीं सकते। हर मोड़ पर हम भारतीय, पाकिस्तानी और बांग्लादेशी के रूप में टकरा सकते हैं, एक साथ आगे नहीं बढ़ सकते।

इन पंक्तियों के लिखे जाने के वक्त अखबारों में खबर है कि प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा है कि पहले स्वतंत्रता संग्राम की डेढ़ सौवीं जयंती तीनों देश मिलकर मनाएंगे। इसके लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। यह फैसला जितना अच्छा है, उतना अजीब भी। क्या हमने बाकी मुल्कों से बात की है? उनका जवाब क्या था? अगर वे राजी हैं और तीनों देश अंग्रेजों के खिलाफ अपने साझा संघर्ष को मिलकर मनाएंगे तो इसके लिए मिली-जुली समिति क्यों नहीं बननी चाहिए? यही हमारी गांठ है। यही बात पाकिस्तान और बांग्लादेश को कचोटती है। भारत के इसी 'बड़प्पन' को दोनों मुल्क शक की निगाह से देखते हैं और अपने-अपने शासन को पुख्ता करने के लिए अवाम को बरगलाते हैं कि एक रोज भारत हमें निगल लेगा। ऐसे हाल में दहशतपसंद ताकतें और सिर उठाती हैं। पाकिस्तान और बांग्लादेश अपने तंग दायरों से बाहर निकलें, हमारी यह अपेक्षा वाजिब है। लेकिन उनका भरोसा जीतने के लिए क्या हमें भी अपना दायरा बढ़ाना नहीं होगा?